

यह नियमसार, निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार। गाथा १०६। बीच में थोड़ा बाकी है न? अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का भेद... देखो! यह क्या कहते हैं? कि पर्याय में जो अशुद्धता आत्मा में है, वह अशुद्ध आत्मा कहलाता है। त्याग का अधिकार है न? प्रत्याख्यान का। मिथ्यात्व का त्याग, राग का त्याग—यह सब एक ही प्रकार है। आत्मा में पर्याय में—वर्तमान हालत में अशुद्धता-मलिनता जो है और कर्म का उदय जो निमित्त है, दोनों को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार है। समझ में आया?

अनादि बन्धनरूप सम्बन्धवाले... विकारी अशुद्धपर्याय और कर्म का निमित्त, इनके सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का... भेद—दोनों की पृथक्ता। कर्म का उदय है, उससे भिन्नता। अतः इसका अर्थ यह हो गया कि उदय में जुड़ान। अशुद्ध विकारी पर्याय है, उससे भिन्नता। समझ में आया?

मुमुक्षु : कौन भिन्न? किससे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा की विकारी पर्याय और कर्म का निमित्त, ये दोनों आत्मा के स्वभाव से भिन्न-पृथक्।

फिर से—यहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का वर्णन किया है। परम संयमी धर्मात्मा, अनादि बन्धनरूप सम्बन्ध। किसके साथ? अशुद्ध आत्मा विकारी पर्याय और कर्म का निमित्त इनका इन्हें सम्बन्ध है। कर्म का निमित्त है, इसलिए अशुद्धता है - ऐसा नहीं। परन्तु अशुद्धता और निमित्त को, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उसे भेद द्वारा। अर्थात् विकारी पर्याय और निमित्त दोनों मुझमें नहीं है। कर्म के निमित्त से लक्ष्य छूटने पर अशुद्धता का लक्ष्य भी साथ ही छूट जाता है, ऐसा कहते हैं। थोड़ा सूक्ष्म है। थोड़ा सूक्ष्म है।

आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति, उसकी वास्तविकता। अब उसकी पर्याय में अशुद्धता है, उसे यहाँ अशुद्ध अन्तःतत्त्व कहा गया है। है वह आस्रव, विकार, राग और रोग। राग का रोग। परन्तु उसे अशुद्ध अन्तःतत्त्व कहा। शुद्ध अन्तःतत्त्व है, वह वस्तु। समझ में आया? शुद्ध अन्तःतत्त्व जो चिदानन्द आनन्दस्वरूप भगवान्, वह आत्मा; और

अशुद्ध अन्तःतत्त्व, वह विकारी पर्याय। है तो आस्रव परन्तु उसमें एकता है और इसलिए उसे अशुद्ध अन्तःतत्त्व कहा गया है। एकता मानी है न! नहीं तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप परमानन्द धाम अन्तर्मुख का विषय, वह तो पूर्ण शुद्ध है। उसमें जो पर्याय में अशुद्धता, विकार, भ्रमणा, राग-द्वेष, वह दुःखरूप है। उसे यहाँ अशुद्ध अन्तःतत्त्व कहा है। उस पर्यायवाले जीव को। समझ में आया? और उसे तथा कर्म को निमित्त को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। नैमित्तिक विकारी पर्याय, निमित्त कर्म का उदय। दो का सम्बन्ध, वह व्यवहार है। उसे मैं आत्मा शुद्ध अन्तःतत्त्व पूर्ण आनन्द, ज्ञान हूँ। उसे अशुद्ध पर्याय और निमित्त, दोनों से भेद करके, भेद अभ्यास के बल से-भिन्न करने के बल से। सेठी! ऐसा भारी सूक्ष्म मार्ग!

कर्म पुद्गल का भेद, भेदाभ्यास के बल से - ऐसी दो बातें। भगवान आत्मा तो शुद्ध आनन्द पवित्र धाम भगवान आत्मा है परन्तु उसकी पर्याय में जो अशुद्धता है, वह निमित्त के सम्बन्ध में हुई है। कर्म का निमित्त, उसके सम्बन्ध से संसार विकार, उदयभाव अन्तःतत्त्व अशुद्ध पर्याय और कर्म का निमित्त। दोनों का भेद - दो का भेद करना। अर्थात् शुद्ध आत्मा परम आनन्द हूँ। उसकी ओर झुकने से वह अशुद्धता और निमित्त का भेद हो जाता है। सेठ! सेठ है न, वह तुम्हारी अपेक्षा बहुत ध्यान रखता है। दोनों भाई हैं न, उसमें से भाग मिल ऐसा? ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह वस्तु स्वयं भगवान आत्मा, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द की कातली है। उसे चूसना चाहिए। उसके अतीन्द्रिय आनन्द में झुकाव से अतीन्द्रिय आनन्द का चूसाव-रस आता है उसके द्वारा, ऐसा जो दोनों का भेदस्वरूप, उसके द्वारा। भेदाभ्यास से। राग और निमित्त से भिन्न। ऐसे अन्तर्मुख के झुकाव से। वीतरागमार्ग ऐसी अलौकिक चीज़ है कि उसे शुद्ध द्रव्यपना बताते हैं, पर्याय में अशुद्धता बताते हैं और उसका निमित्त बताते हैं। ऐसी तीन चीज़ें वीतराग के सिवाय कहीं नहीं होती। सर्वज्ञ परमेश्वर ने वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। समझ में आया?

कहते हैं कि धर्मात्मा को क्या करना? अनादि बन्धनरूप सम्बन्ध। बन्धनरूप सम्बन्ध, ऐसा अशुद्ध अन्तःतत्त्व। विकारीभाव, उदयभाव, दोषवाला भाव, दुःखरूप भाव, उसे कर्म पुद्गल निमित्त है। उनका भेद दोनों भिन्न हैं। वास्तव में तो इस न्याय से भिन्न हैं।

निमित्त और अशुद्धता ये दोनों भिन्न हैं परन्तु दोनों भिन्न हैं, इनकी एकता मानी है, इसलिए कहते हैं कि यह भेद भेदाभ्यास के बल से करते हैं। अन्तर्मुख स्वभाव चैतन्य की ओर झुकने से, उसके सन्मुख होने से यह राग और निमित्त का भेद हो जाता है और उस प्रकार के भेदाभ्यास के बल से उसका भेद करते हैं। ऐसा कहते हैं न? **भेद भेदाभ्यास के बल से करता है...** ऐसा कहा। क्या कहा? अशुद्ध अन्तःतत्त्व विकारी दशा अर्थात् अशुद्ध आत्मा। इसलिए ऐसा करके यह सिद्ध करते हैं कि पर्याय में अशुद्धता जीव ने स्वयं की है। थी, उसे भेद करना है, यहाँ तो कहते हैं। की है अनादि की, उससे भेद करके भेदाभ्यास करना है। मुनि को या सम्यग्दृष्टि को। समझ में आया? बहुत धीरज का मार्ग है।

ऐसा अशुद्ध अन्तःतत्त्व। यहाँ तो वस्तुस्थिति बताते हैं। वस्तु शुद्ध अन्तःतत्त्व है और पर्याय में अशुद्ध अन्तःतत्त्व वह स्वयं हुआ है और उसमें निमित्त वह (कर्म) है। इन दो का और इन दो से भिन्न का भेद भेदाभ्यास के बल से करता है। धर्मी उन्हें भेद के बल से भेद करता है। आहाहा! ऐसा पकड़ना कठिन। ऐसी बात सिद्ध की है।

जब प्रत्याख्यान होता है या मिथ्यात्व का त्याग होता है, तब उसका अर्थ यह हुआ कि मिथ्यात्व और राग उसमें था। था या नहीं? पर्याय में-अवस्था में-दशा में-हालत में विकार था, तो विकार का त्याग होता है। पर का तो त्याग है ही। परवस्तु तो कुछ है ही नहीं। पर का लक्ष्य किया है, इतना सम्बन्ध है और लक्ष्य करके पर्याय में जो अशुद्धता उत्पन्न हुई है, वह अशुद्धपर्याय अर्थात् अन्तःतत्त्व और कर्मपुद्गल निमित्त, इनका भेद भेदाभ्यास के बल से करता है। अन्तर के स्वभाव की सन्मुखता करके (करता है)। यह निमित्त और अशुद्ध तो भेद है ही, परन्तु दो में से भी भेद करके... आहाहा! भगवान आत्मा... भाई! यह बड़ा काम है। समझ में आया? इसने कभी किया नहीं। इसे कैसे करना इसकी खबर नहीं।

दोनों की—अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्मपुद्गल। ऐसा शब्द पड़ा है न? इनकी भिन्नता—इनका भेद, भेदाभ्यास के बल से करता है। यह राग और निमित्त वह मैं नहीं। मैं ज्ञायक चिदानन्द आत्मा। सच्चिदानन्द प्रभु-परमात्मा-ईश्वर पूर्ण स्वरूप मैं हूँ - ऐसा पर से भेद करने का अभ्यास करने पर दोनों भिन्न पड़ जाते हैं, ऐसा कहते हैं। जेठालालभाई! आहाहा! भेदज्ञान... भेदज्ञान कहते हैं न? मुझे भेदज्ञान बताओ, ऐसा बेचारा... कभी किया

हुआ नहीं, सुना हुआ न हो। अरे! जीव को... ऐसा आया है इसमें। बेचारे क्या करे? यह बात... आहाहा!

तीन लोक का नाथ अनन्त-अनन्त सिद्धों को रजाई में रखकर बैठा, ऐसा भगवान है। आहाहा! सोढ समझते हो? सोढ। हमारी काठियावाड़ी भाषा है। रजाई ओढ़ते हैं न? रजाई। शॉल ओढ़ते हैं न? शॉल। उसे यहाँ सोढ कहते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा अनन्त सिद्धों को अपने गर्भ में, सोढ में रखा है। ऐसा भगवान आत्मा, उसे अशुद्धता की पर्याय और कर्म का निमित्त; अब निमित्त तो भिन्न है, दोनों का सम्बन्ध भी व्यवहार से था। वह व्यवहार अभूतार्थ है, झूठा है। समझ में आया? मार्ग तो ऐसा है, भाई! सत्य तो ऐसा है। इसे कठिन कहो, सरल कहो, महँगा कहो, परन्तु है तो यह। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से करने जाएगा तो जन्म-मरण नहीं मितेंगे और यह भी अपने लिये है न! इसमें कहाँ किसी के लिये यह है। दुःख भी स्वयं भोगता है। आहाहा! अकेला दुःख भोगता है। यह आ गया। पहले गाथा। अकेला दुःख भोगता है। अकेला मरता है और अकेला जन्मता है। आया न भाई पहले? आहाहा! परन्तु कौन, तेरा था कौन कि तुझमें साथ आवे? आहाहा! तुझमें था, तूने माना था कि मिथ्यात्व, राग-द्वेष यह तूने माना था। आहाहा! उससे अब पृथक् पड़ना है। इसका नाम धर्म है। है पृथक् परन्तु इसने (एक) माना है कि यह राग मैं हूँ। वह तत्त्व तो भिन्न तत्त्व है।

राग, दया, दान, व्रत आदि के परिणाम वह तत्त्व आस्रव भिन्न तत्त्व है। कर्म का उदय तो भिन्न तत्त्व है ही, वह तो जड़ की पर्याय है। यहाँ तो दोनों का सम्बन्ध कहकर, अब उससे भिन्न करना है। जिसने सम्बन्ध जोड़ा है, वह सम्बन्ध तोड़े। भाई! यह तो तेरे घर की, हित की बात है। महँगी लगे या न लगे परन्तु यह किये बिना इसका कभी चौरासी के अवतार... अरे! भाई! नहीं मितेंगे। दुनिया तो दुनिया देखेगी और दुनिया तो बाहर की बात के गुणगान भी करेगी, इससे कहीं तेरा भला हो, ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, सम्बन्धवाले अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म-पुद्गल का भेद... भिन्नता। भेद भेदाभ्यास के बल से करता है,... इसका अर्थ यह कि स्वसन्मुखता में आता है, इसलिए राग और निमित्त का भेद पड़ जाता है। आहाहा! ऐसा काम है। समझ में आया? वह परम संयमी... परम धर्मात्मा को। निश्चयप्रत्याख्यान तथा व्यवहारप्रत्याख्यान

को स्वीकृत (-अंगीकृत) करता है। लो, ऐसे धर्मात्मा को स्वसन्मुख की प्रगट हुई दशा, वह निश्चयप्रत्याख्यान है और जरा विकल्प उठे यह चौबीस घण्टे, अढ़तालीस घण्टे आहार नहीं लूँ, वह व्यवहारप्रत्याख्यान है। परन्तु वह ऐसे धर्मात्मा को निश्चय और व्यवहार होता है। अकेले आत्मा के भान बिना के त्याग और अपवास किये और यह किया, उसे व्यवहार त्याग भी नहीं है। लंघन है। दोनों लिये, हों! अभी साधक की बात है न!

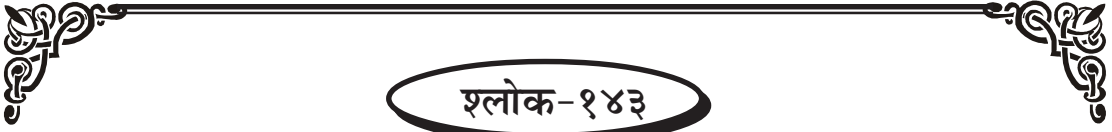
अभी पंच महाव्रत का विकल्प है, वह व्यवहार त्याग कहलाता है। व्यवहारप्रत्याख्यान। अन्तर में राग से भिन्न पड़कर चैतन्य का तल जिसने अन्दर से खोजा है, चैतन्य के तल में तो अनन्त आनन्द और ज्ञान भरा है। ऐसे तल में-तल में अन्तर में जाता है, उस दशा को निश्चयत्याग कहा जाता है। समझ में आया? यह बात साधारण लाखों लोग इकट्ठे हों और हो.. हा... हो, ऐसा यह नहीं है। ऐई! मूलचन्दभाई! लाखों लोग हो.. हा.. हो, ऐसा नहीं है। वह तो व्यवहार में प्रसन्न हो जाए। आहाहा...! आहाहा...! अपवास किया, अट्टाई की, दशलक्षणी के दस दिवस किये... वाह... वाह...!

मुमुक्षु : अपवास करनेवालों की तो शोभायात्रा निकलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शोभायात्रा निकलती है। मरते हैं, उसकी अर्थी निकलती है या नहीं? वह शोभायात्रा नहीं? स्त्रियाँ और आदमी इकट्ठे होकर निकलते हैं या नहीं? या अकेला मुर्दा जाता है? और यह शोभायात्रा साथ में होती है। वह भी शोभायात्रा ही है न, दूसरा क्या है? बारात में विवाह करने जाते हैं और मरने में जलाने जाते हैं, दूसरा क्या है? बैण्ड बजाते हैं। हमारे पालेज में तो एक भंगी होता है, उसके पास बड़ा भूंगला होता है, भूंगला। मरते हैं, तब वह भूंगला लेकर आता है। बड़ा भूंगला। ऐसा बड़ा भूंगला। भंगी हो, भंगी। भंगी समझते हो न? हरिजन नहीं, हरिजन तो ढेढ़। यह तो भंगी। उससे हल्का कहा जाता है। उनमें भी दो जातियाँ हैं। विष्टा और पाखाना साफ करे, वह भंगी कहलाता है। हरिजन तो उससे वे कहलाते हैं, सूत का काम करे... वह भंगी का घर है वहाँ। दस्त को जाते हैं, वहाँ बाहर घर है। यह मरे तो बड़ा भूंगला लेकर आता है। भूं... भूं... करता हुआ मुर्दे के सामने आगे चलता है। वह बाजा है। विवाह करने जाए, तब वह बैण्डबाजा बजावे। सब एक की एक जाति है, क्या है परन्तु? आहाहा!

यहाँ कहते हैं मुनिराज ने ऐसी शैली ली है कि राग से और निमित्त से... निमित्त से

तो भिन्न है ही परन्तु राग और निमित्त को सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध तोड़ा। स्वभाव के साथ सम्बन्ध करने से राग के सम्बन्ध का अन्दर भेद पड़ गया। उस भेद के अभ्यास द्वारा अन्तर्मुख दृष्टि हुई और जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और शान्ति प्रगट हुई, वह तो सत्यस्वरूप सत्य त्याग, सत्य प्रत्याख्यान है। उसमें अभी अधूरा है; इसलिए विकल्प आता है कि त्याग करूँ... यह करूँ... यह करूँ... उस विकल्प को व्यवहार अंगीकार करता है, ऐसा कहा जाता है। व्यवहार से आदरता है, ऐसा।



श्लोक-१४३

[अब, इस निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं:]

(रथोद्धता)

भाविकालभवभावनिवृत्तः सोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः ।

भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥१४३॥

(वीरछन्द)

मुनि को 'भावी' भव-भावों से मैं हूँ जो निवृत्त सदा।'

इस प्रकार मलमुक्ति हेतु निज पूर्ण सौख्य निधि को भाना ॥१४३॥

[श्लोकार्थः] 'जो भावि काल के भव-भावों से (संसारभावों से) निवृत्त है, वह मैं हूँ' इस प्रकार मुनीश्वर को मल से मुक्त होने के लिए परिपूर्ण सौख्य के निधानभूत निर्मल निज स्वरूप को प्रतिदिन भाना चाहिए ॥१४३॥

श्लोक -१४३ पर प्रवचन

[अब, इस निश्चय-प्रत्याख्यान अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नौ श्लोक कहते हैं:] एक के नौ ।

नौ अफर अंक है न। आगे नौ लेंगे। आलोचना में नौ लेंगे। एक ६ लेंगे और एक ९ लेंगे। आहाहा। १४३। ऊपर कलश है न?

भाविकालभवभावनिवृत्तः सोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः।

भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥१४३॥

आहाहा! अरे! मुनियों ने तो काम किया है न! गजब किया है! दिगम्बर मुनि, वे तो केवलज्ञान के पथानुगामी, केलवज्ञान को टिकाकर रखा है। केवलज्ञान लूँ, केवलज्ञान लिया या लूँ, ऐसा है। ऐसी दशा है। देखो! क्या कहते हैं?

[श्लोकार्थः] 'जो भावि काल के भव-भावों से...' भविष्य के भव के कारण ऐसे विकारी भाव 'निवृत्त है, वह मैं हूँ'... आहाहा! सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही है। प्रत्याख्यान है अवश्य न, इसलिए भावि काल लिया है। प्रतिक्रमण (में) भूतकाल लेते हैं। संवर, आलोचना वर्तमान लेते हैं। भावि काल के परन्तु वर्तमान में भावि काल के भव भावों से निवृत्त हूँ। अर्थात् अभी मैं निवृत्त हूँ। आहाहा! मेरे स्वभाव में वह विकारभाव है ही नहीं। भूतकाल के लिये या भविष्य काल के लिये या वर्तमान काल के लिये। आलोचना में वर्तमान आयेगा। अहो! चैतन्यसमुद्र, कैसा पवित्रता का धाम प्रभु! मैं, वह मैं भावि काल के भव के भाव, संसार के भाव, पुण्य-पाप के विकल्प से निवृत्त है, वह आत्मा मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? ऐसे खबर पड़ती होगी यह?

यह कहते हैं, 'निवृत्त है, वह मैं हूँ'... पर्याय में विकार था और वह विकार भावि काल में भव का कारण था। उससे मैं निवृत्त हूँ, वह मैं हूँ। आहाहा! इस प्रकार मुनीश्वर को... धर्मात्मा ने मल से मुक्त होने के लिए... देखो! भावि भव का भाव, वह मैल है। चाहे तो सर्वार्थसिद्धि में स्वर्ग में जाने का भाव (होवे), वह भी मैल है। उससे तो निवृत्त है, वह मैं। निवृत्त है, वह मैं। वह है, वह मैं नहीं। शुभाशुभभाव है, वह मैं नहीं। उससे निवृत्त है, वह मैं हूँ। गजब काम, भाई! अन्तर्मुख ढलने पर, स्वभावसन्मुख ढलने पर, झुकने पर वह मैं, वह तो भावि के भव के भाव से रहितवाला, वह मैं हूँ। समझ में आया? भारी कठिन काम। यह सत्य ही ऐसा है। इसे कठिन कहना, वह तो लोक की दुर्लभता बताने के लिये है। कठिन कहने से वह वस्तु इससे कोई दूसरी जाति हो, ऐसा नहीं है। बात तो यह है।

भगवान सत्य का स्वरूप तो यह है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने

ऐसा जाहिर जगत में प्रसिद्ध किया है। समझ में आया ? अरे ! भावि अर्थात् भविष्य काल, उसके जो भव, उसका भाव। भव के भाव से तो मैं निवृत्त हूँ। अभी मैं निवृत्त हूँ। आहाहा ! समझ में आया ? यह तो कोई बात है ? वह तो भाव है। वह भाव प्रगट हुए बिना सब बातें व्यर्थ-व्यर्थ है। आहाहा ! फिर पूजा करे और भक्ति करे और यात्रा निकाले... दस-दस लाख, बीस लाख खर्च करे और लाख, करोड़, अरब मन्दिर बनावे, सब व्यर्थ है।

मैं अर्थात् आत्मा और यह आगे कहेंगे... अनन्त-अनन्त आनन्द का नाथ भरपूर। ऐसा मैं भावि भव के भाव से निवृत्त है, वह मैं हूँ। आहाहा ! वर्तमान में यह भाव करता है कि ऐसा हूँ और भावि के लिये भी मैं ऐसा ही हूँ। आहाहा ! भारी कठिन बात ! पूरे दिन... यह देखो न ! दस दिन आयेंगे। पूजा करना, भक्ति सबेरा हुआ, षोडशकारण भावतां... क्या आता है ?

मुमुक्षु : दर्शन विशुद्धि भावना भाय....

पूज्य गुरुदेवश्री : सोलह तीर्थकर पद पाय। ऐई ! प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए सब। आहाहा ! षोडशकारण भावना तो विकल्प, राग है। जिस भाव से तीर्थकर (प्रकृति) बँधती है, वह राग है, अपराध है, नुकसान है। आहाहा ! ऐ मूलचन्दभाई !

मुमुक्षु : तीर्थकर पद को प्राप्त हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीर्थकर अर्थात् क्या ? समवसरण मिले, वह तीर्थकर ? वह तो जड़ का हुआ है। वह तो पुण्य-प्रकृति है और जिस भाव से बँधी है, वह तो अपराध है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में कहा है न ? महाराज ! समकिति भी जब तीर्थकरगोत्र बँधता है तो वह भाव समकिति को ही होता है। तो वह क्या है ? समकित से बँधता है ? नहीं; वह तो शुभोपयोग का अपराध है। समझ में आया ? पहले बताया था। कितनी गाथा ? २२०। देखो ! इस लोक में रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही कारण होता है, अन्य गति का नहीं, और जो रत्नत्रय में पुण्य का आस्रव होता है, यह अपराध शुभोपयोग का है। कहो, समझ में आया ? तीर्थकर की बात है, हों ! ऊपर। यह २१८ (गाथा) है।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।

योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्॥२१८॥

जिसमें सम्यक्त्व और चारित्र... आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा होने पर भी, उसे तीर्थकर और आहारकट्टिक (प्रकृति) के बन्ध करनेवाले योग और कषाय होते हैं... योग और कषाय तीर्थकर प्रकृति के बन्ध का कारण है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य महाराज दिगम्बर सन्त वनवासी (यह कहते हैं)। पुरुषार्थसिद्धिउपाय, २१८ गाथा। आहाहा! और नहीं होने पर नहीं होते... अर्थात् कि योग और कषाय न हो तो तीर्थकरगोत्र नहीं बँधता। सम्यक्त्व और चारित्र बिना, बन्ध के कर्ता योग और कषाय नहीं होते... सम्यक्त्व और चारित्र न हो तथा योग, कषाय से कर्म बँधे, ऐसा नहीं होता। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र हो, वहाँ ऐसी कषाय होती है, उससे तीर्थकरगोत्र बँधता है। तो वह इस बन्ध में उदासीन हैं। यह सम्यग्दर्शन और चारित्र, जिस भाव से तीर्थकरप्रकृति बँधती है, उस भाव से उदास है। तब है क्या वह? ऐसा कहा। वह अपराध है। यह २२० (गाथा) में अपराध कहा है। योग-कषाय, वह अपराध है। आहाहा! ऐ... भीखाभाई! तीर्थकरप्रकृति भी... कहते हैं न, मूलचन्दभाई (कि) तीर्थकरप्रकृति बँधती है न, तीर्थकर होते हैं न! आहाहा! और जिस भाव से तीर्थकर (प्रकृति) का बंधन हुआ, उस भाव से कहीं केवलज्ञान नहीं होता। वह तो अपराध है। उसका नाश करेगा, तब केवलज्ञान होगा। समझ में आया? ऐसा मार्ग! आहाहा! वीतराग का निर्दोष निष्कलंक मार्ग। आहाहा!

अपना स्वभाव ही अत्यन्त शुद्धस्वभाव पवित्र है। उसके-स्वभाव के भान द्वारा और स्थिरता द्वारा ही मुक्ति होती है। उसमें यह बीच में अपराध आता है। आहाहा! वह प्रसन्न-प्रसन्न होता है। सोलहकारणभावना भाय तीर्थकर पद पाय... क्या आता है न? क्या कहा बाद में? परम गुरु होय... ऐई...! श्रीचन्दजी! हमारे श्रीचन्दजी बहुत गाते हैं। यह दस दिन आयेंगे न? परम गुरु होय... ऐ... बैठे वहाँ। पहले बहुत गाते थे। अब कम हो गया है। अपवास-वपवास हो। तीर्थकरपद पाये, परम गुरु होय... परम गुरु होय। तीर्थकर से परम गुरु होता होगा? प्रकृति से? और जो भाव अपराध है, उससे आत्मा परम गुरु होता होगा? ऐई! सेठ! लोगों की श्रद्धा में ही कुछ भान नहीं होता।

यहाँ तो २२० (गाथा) में कहा 'शुभोपयोगोऽयमपराधः' मूलचन्दभाई! जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भाव-शुभोपयोग का अपराध है। शुभोपयोग स्वयं अपराध है। आहाहा! कहीं निरपराध से बंधन होगा? पाटनीजी! (संवत्) १९८५ में यह

बात सभा में रखी थी। १९८५। तब सम्प्रदाय में थे न? पौष महीना था, पौष। १९८५, बोटाद। १५+२७=४२ (वर्ष) हुए। वहाँ तो हजारों लोग आते थे। लोगों को हमारे प्रति बहुत प्रेम था न खचाखच सभा। यह तो अभी छोटी है। वह तो बड़ी सभा। तीन सौ-साढ़े तीन सौ घर। हजार-पन्द्रह सौ लोग खचाखच (बैठे हों)। बाहर बैठे। समावे नहीं। लोगों को बहुत मान था न, हमारे प्रति प्रियता बहुत थी। यह मुँहपत्ती बदली, मूर्ति आयी, वहाँ सब बदल गया। तब ऐसा कहा था, हों! सभा में। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह धर्म नहीं है। धर्म से बँधे, वह वस्तु नहीं हो सकती। इसलिए धर्म से विरुद्ध वह पुण्य है। दूसरे प्रकार से कहो तो कहो तो, अधर्म है। खलबलाहट हो गयी। सभा में तो सबको प्रेम था न!

एक वेशधारी बैठा था। जगजीवन। ऐई! हरिभाई! जगजीवन को पहिचाना न? कहाँ गये हरिभाई? जगजीवनजी थे। अकेले बैठे थे। वोसरे... वोसरे... वोसरे... वोसरे अर्थात् यह श्रद्धा हमें नहीं चाहिए। कहाँ है परन्तु मुफ्त के उठ गये सभा में से। सभावालों को कुछ खबर पड़े, क्या बोले। परन्तु मुझे खबर पड़ी। सभा तो एक ही ध्यान से मेरा सुनती हो। वे तो चले गये। व्याख्यान पूरा हुआ, फिर अकेले (थे तब) कहा, परन्तु किसलिए उठे? नहीं जँचता होवे तो बैठे रहना था। किसी ने माना तुम्हें? क्या कहा यह सभा को खबर है? वोसरे... वोसरे करके उठ गये। अपने आता है न वोसरे? नहीं आया? आ गया। प्रत्याख्यान में। त्यागता हूँ, छोड़ता हूँ। वोसरे अर्थात् छोड़ता हूँ। यह श्रद्धा छोड़ता हूँ परन्तु थी कहाँ? व्यर्थ में किसलिए उठ गये? उनके बड़े साधु को अच्छा लगाने के लिये। मूलचन्दजी को। देखो! मैंने उस समय ऐसी सभा में भी (ऐसा बोला)। कोई सभा समझती नहीं कि तुमने क्या कहा। मुझे खबर है कि यह श्रद्धा तुम्हारी वोसरे... वोसरे। १९८५ की बात है, सेठ! १५+२७=४२ वर्ष हुए। सम्प्रदाय में कहा था, हों! आहाहा! मार्ग यह है। मार्ग यह है, कहा। दो बातें की थीं। पंच महाव्रत, वह आस्रव है और तीर्थकरगोत्र जिस भाव से बँधता है, वह धर्म नहीं है परन्तु अधर्म है। मानो, न मानो परन्तु मार्ग यह है। बालचन्दजी! तुम्हारे सम्प्रदाय में रहकर कहा था। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ऐसे धर्मात्मा को मल से मुक्त होने के लिए... आहाहा! परिपूर्ण सौख्य के निधानभूत... आहाहा! परिपूर्ण आनन्द का निधान, ऐसा जो निर्मल निजस्वरूप।

भगवान आत्मा अपना निजस्वरूप, अपना परिपूर्ण आनन्द। आहाहा! परिपूर्ण सुख। अनन्त सुख। परिपूर्ण सुख का निधान। अनन्त सुख। परिपूर्ण सुख का निधान। ऐसी मेरी निज की खान। वह भी निर्मल निज स्वरूप... उसे को प्रतिदिन भाना चाहिए। धर्मात्मा को प्रतिदिन यह भावना करनी चाहिए। मैं परम आनन्द का धाम, निधान (हूँ), उसकी ओर झुकाव करना, इसका नाम धर्म है। कहो, सेठ!

मुमुक्षु : भावना भाना तो इस प्रकार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावना का अर्थ यहाँ एकाग्रता है। भावना अर्थात् विकल्प नहीं।

कहते हैं कि धर्मात्मा ने मैं हूँ, ऐसा तो निर्णय स्थिरता में किया है परन्तु मुक्त होने के लिये बारम्बार परिपूर्ण सुख का धाम निधान प्रभु, आहाहा! अल्प सुख नहीं, दुःख तो नहीं ही। भगवान आत्मा में दुःख तो है ही नहीं, विकार तो है ही नहीं। निमित्त तो नहीं परन्तु अल्प सुख भी नहीं। चैतन्य आनन्द का नाथ, जिसका स्वभाव आनन्द, ऐसे परिपूर्ण सुख का निधान, ऐसा निज निर्मल स्वरूप, उसकी ओर झुकाव करना। आहाहा! लो! जेठालालभाई! अभी तो यहाँ जेठालालभाई को वह विवाद, कर्म का होवे तो विकार होता है, कर्म होवे तो विकार होता है। करो, चर्चा। यह कहे, मैं ऐसा नहीं मानता। क्या कहा यह?

जिसे सुखी होना हो तो उसे क्या करना? कि परम परिपूर्ण आनन्द का निधान भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने प्रगट किया और ऐसा आत्मा है। परम आनन्द की मूर्ति प्रभु परिपूर्ण आनन्द। ऐसा जो आत्मा का स्वभाव, निर्मल निजस्वरूप ऐसा जो आत्मा का है, उसमें एकाग्र होना, वह सुख को प्राप्त करने का मार्ग है। बाकी यह सब दुःख को प्राप्त करने के रास्ते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? १४३ (श्लोक पूरा) हुआ। १४४।

श्लोक-१४४

(स्वागता)

घोरसन्सृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।

तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥१४४॥

(वीरछन्द)

परमतत्त्व यह घोर भवोदधि की दैदीप्यमान नौका ।

जिन कहते हैं अतः मोह को जीत तत्त्वतः मैं भाता ॥१४४॥

[श्लोकार्थः] घोर संसारमहार्णव की यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है
ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इसलिए मैं मोह को जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः
(पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ ॥१४४॥

श्लोक -१४४ पर प्रवचन

१४४ (श्लोक)

घोरसन्सृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः ।

तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥१४४॥

श्लोकार्थः आहाहा! घोर संसारमहार्णव... विशाल समुद्र चार गति में भटकने का संसार मिथ्यात्वभाव । आहाहा! नरक और निगोद, चींटी और कौवा, कुत्ता और कुंजर, हाथी—ऐसे भव महासंसार घोर संसार । महार्णव—महासमुद्र है, कहते हैं । आहाहा! उसका यह (परम तत्त्व) दैदीप्यमान नौका है... चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ, वह परम घोर संसार को तरने के लिये नाव समान है । यह आत्मा नाव है । ये बाहर के संयोग तो दुःखदायक का निमित्त है और अन्तर के संकल्प-विकल्प, वह तो दुःख की मूर्ति है । आहाहा! संकल्प और विकल्प, यह करूँ और वह करूँ, यह सब दुःख की खान है । अकेली दुःख की खान है । ऐसा महासमुद्र संसार, उसे तरने के लिये यह (परम तत्त्व)

दैदीप्यमान नौका है... यह शोभित नाव है। शृंगारित नाव है। कौन ? आत्मा। अनन्त ज्ञान और आनन्द का नाथ प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द परिपूर्ण सुख से भरपूर आत्मा है। वह आत्मा संसार के-घोर संसार के भव से तरने के लिये आत्मा नाव है। आहाहा!

‘नाव तरे रे मेरी नाव तरे,’ – ऐसा श्वेताम्बर में आता है। वह बात सत्य नहीं है परन्तु... एक ‘अयवन्तो’ राजकुमार था। छोटी उम्र में दीक्षा ले ली थी। श्वेताम्बर में ‘भगवती’ में आता है। सब बात मिथ्या है परन्तु यह बात ऐसी आती है। सार निकालना है। वह अयवन्तो राजकुमार था, फिर छोटी उम्र में दीक्षा ली थी। बहुत छोटी उम्र। उसमें मुनियों के साथ जंगल-दस्त के लिये बाहर जाते हैं, चलते जाते हैं, वहाँ बरसात बहुत आयी। बरसात समझे ? बरसात नहीं समझते ? वर्षा कहो या बरसात कहो। इतना शब्द है। पानी बहुत गिरा। उसमें छोटा बालक राजकुमार और दीक्षा हो गयी। वह पानी का प्रवाह चलता है न ? बहुत वर्षा, इसलिए स्वयं ऐसे बैठ गया। बैठकर ऐसे प्रवाह चला उसमें धूल की पाल बाँधी। मिट्टी की पाल बाँधी और पात्र हाथ में था। श्वेताम्बर तो ऐसा मानते हैं न ? पात्र।

मुमुक्षु : पात्र तो पहले से सिद्ध कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब सिद्ध करना है। एक कंकड़ में सब... सब बातें खोटी। वह पात्र उसमें रखा ‘नाव तरे रे मेरी नाव तरे... ऐसे मुनिवर जल क्या खेल करे...’ उनकी सज्जाय सब पढ़ी हुई है। यह तो दुकान पर पढ़ी थी। (संवत्) १९६४-६५। चार सज्जायमाला है न ? वे तो तब पढ़ी थी। उन दूसरे साधु ने देखा तो कहे, अर..र..! यह क्या ? पानी में... ‘नाव तरे रे मेरी नाव तरे... मुनिवर जल क्या खेल करे... मोहनीयकर्म कारे ये चाला, मुनिवर दोहे न नारिया रे बाबा...’ एक हस्तिमुक्तकुमार और एक गजसुकुमार। दोनों छोटे थे न ? उनकी एक बड़ी सज्जाय है। यह तो सब दुकान पर पढ़ी थी। दीक्षा से पहले, हों! (संवत्) १९६४ के वर्ष। धन्धा निवृत्ति का, घर की दुकान थी। बहुत पढ़ा था।

यहाँ ऐसा कहते हैं... वह तो पात्र, पानी और साधु... वह सब बात मिथ्या है। आहाहा! समझ में आया ? परन्तु यह नाव। आहाहा! मेरा भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति। ‘नाव तरे रे मेरी नाव तरे... ऐसे निज आनन्द में आतम खेल करे...’ निज, कहा न ! देखो न ! मेरा तिरता आत्मा, वह संसार के समुद्र से नाव समान तिरता है। सम्यग्दृष्टि धर्मों ऐसे अपने निजानन्दस्वरूप भगवान को संसार के समुद्र से तैरती नाव मानता है। आहाहा!

समझ में आया ? राजकुमार... गजसुकुमार हुए न ? श्रीकृष्ण के भाई ! वे छोटी उम्र में... विवाह नहीं किया था और दीक्षा ली थी । उन्हें भी एकदम वैराग्य होकर संसार में ध्यान में थे और उनके ससुर ने नहीं... अपने फोटो हैं न ? गजसुकुमार का । इन दोनों की बात आती है । दो मुनिवर नाम लिया बाला । एक तो मुनि को पात्र नहीं होता और एक मुनि बालक हों तो भी उन्हें ऐसे मोह के खेल नहीं होते । ऐई ! आहाहा ! ऐसी बातें लगायी है उसमें- भगवतीसूत्र में । राणपुर में यह बात कोई आयी थी । वे भाई थे न ? क्या कहलाते हैं ? राणपुर में छापावाले । गुजर गये, नहीं ? अमृतलालभाई । वे वहाँ व्याख्यान में आये थे । वहाँ था न ? उनका स्थान था न, राणपुर । बाहर छापा में था । हम उनके घर में गये थे । तब व्याख्यान में आये थे और यह बात आती थी । तब यह आयी थी । १९८४ की बात है । १९८४ का चातुर्मास था न ? राणपुर । बेचारों ने कभी सुनी नहीं, इसलिए आहा... क्या कहते हैं यह ? क्योंकि उन्हें वैराग्य... सब आये थे । पर्यूषण में तो आवे न, देखो ! ऐसा है । आत्मा राग से भिन्न और पर से भिन्न, उसका भान किये बिना नाव तिरेगी नहीं, कहा । डूब जाएगी । यह बाहर की शोभा और यह पैसा मिला और अमुक मिला और इज्जत बढ़ी, और पूँछ बढ़ी । भटकने का है, ऐई ! मलूकचन्दभाई तब थे या नहीं ? १९८४ । उसका उपाश्रय, कैसा ?

मुमुक्षु : अमृतलाल ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह । वह उपाश्रय है न ? वहाँ मंजिल पर पढ़ा था न, तपसी का उपाश्रय । १९८४ में । यह थे न । मनसुख-बनसुख तब सबने प्रौषध किये थे । खबर है ? यह मनसुख तब छोटा था । १९८४ । १६+२७, कितने हुए । ४३ वर्ष पहले की बात है । उसने प्रौषध किया था । पूनमभाई ! तुम्हारे पिता ने और इन सबने प्रौषध किया था ।

मुमुक्षु : बाजार में यह नहीं खपता होगा ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची है । अब यह दूसरा माल आया । यह तो अब कस्तूरी बंटती है । वह तो सब भूसे का पोटला था । आहाहा !

देखो न ! मुनिराज ने किस प्रकार (बात की है) ! अरे रे ! घोर महार्णव संसार । चौरासी के अवतार के कारण विकारभाव, मिथ्यात्वभाव, पुण्य-पापभाव । ऐसा महासंसार घोर । उसमें दैदीप्यमान मेरी नाव रंगीन है, शोभित नाव है, कहते हैं । ऐसा कहा न ? भाई ! 'भास्व', 'भास्व', 'भास्व' अर्थात् शोभित । समझ में आया ?

एक दृष्टान्त देते थे। एक अन्धा था, उसका पिता मर गया था और उसके पिता को नाव का धन्धा था। नाव टूट गयी, फूट गयी, उसमें कोई पुण्य का दांडो होगा। नर्मदा की नदी में उस किनारे जाना था। अब यह कहे कि भाई! मेरे पास कुछ साधन नहीं है। मैं अन्धा हूँ। फूटी नाव थी, कागज से शृंगार किया। कागज.. कागज.. लपेटकर... क्या किया? कागज नहीं समझते? लाल चित्रामणवाले कागज (लगाये) फूटी नाव। नाव फूटी हुई, छिद्र पड़े हुए। खर्च करे तो हजार रुपया चाहिए। शोभित नाव। फिर नदी के इस किनारे से उस किनारे जाना। लोगों को तीन रुपये, चार रुपये इस किनारे से उस किनारे ले जाने के हैं। यह नाववाला कहे, मुझे तो एक रुपया लेना है। पूरी (नाव) खचाखच भर गयी। नाव चली। चलते हुए जहाँ पानी भरा तो कागज भींगने लगे। अन्दर अधबीच में पानी आया। ऐ.. यह क्या हुआ? भाई! तुम्हें खबर नहीं? चार रुपये का एक रुपया (लिया तो) तुम ठगाये या मैं ठगाया?बताया। वह चार रुपया ले तो मैंने एक रुपया लिया। तो कुछ कारण होगा, ऐसा तुम्हें विचार नहीं आया? चश्मा चढ़ाया था हरा, इसलिए दूसरे देखे नहीं। देखो! मैं तो अन्धा हूँ। परन्तु तुम भी अन्धे?

इसी प्रकार यह मोक्ष के मार्ग की सरल बातें सब अन्धों ने कर डाली हैं। समझ में आया? दया पालो, व्रत करो, तप करो,... मोक्ष होगा। अन्धों ने ऐसा सरल मार्ग किया और वे बिना भान के बैठे इसमें। समझ में आया? जेठाभाई! यह हमारे हीराजी महाराज दृष्टान्त देते थे। गुरु देते थे। उनकी क्रिया तो बहुत कठोर थी न। आहाहा! सस्ता धर्म। अपवास करो, यह करो, अट्टम करो, यह क्या कहलाता है तुम्हारे? सोलह भत्थु करो... सोल भत्थु नहीं? मास खमण महीना का। श्रावण शुक्ल पूर्णिमा से अपने दिगम्बर में। षोडशकारण भावना के अपवास। जाओ, तुम्हारा कल्याण। धूल में भी नहीं, सुन न! मर जा न कल्याण करके? वह तो राग की क्रिया है। सस्ता बताया अन्धों ने। ऐई! मूलचन्दभाई! नाव फूटी हुई शृंगारित। यह सच्ची शृंगार की हुई। आहाहा!

दैदीप्यमान नौका है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है;... आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्र वीतराग परमेश्वर, जिनके सौ इन्द्र तलिया चाटे, ऐसे भगवान त्रिलोकनाथ ने ऐसा कहा है कि संसार से तिरने की नाव, यह तेरा परम आनन्द का धाम आत्मा है। इसकी दृष्टि और अनुभव कर, यह तिरने का उपाय है। बाकी यह क्रियाकाण्ड और रागादि, वह कोई

तिरने का उपाय नहीं है। आहाहा! कठिन तो लगेगा भाई! लोगों को, हों! बहुत वर्षों से सेवन करते हो। मान मिला हो, सामने आकर, लो! यह हमारे घर में चतुर हैं। निकले पागल... ऐई! पोपटभाई! आहाहा!

अरे! घोर संसार को तिरने के लिये यह दैदीप्यमान आत्मा, इसकी दैदीप्यमान नाव है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की नाव आत्मा, उसका जिसने अन्दर अनुभव किया, वह आत्मा स्वयं संसार को तिरने की नाव है। दूसरा कोई क्रियाकाण्ड आदि संसार को तिरने की नाव नहीं है। अरे! इसलिए मैं... जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा। परमात्मा त्रिलोकनाथ ने इन्द्रों के-गणधरों के समक्ष परमात्मा ऐसा फरमाते थे।

मैं मोह को जीतकर निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से) भाता हूँ। आहाहा! ऐसा परम तत्त्व। मोह को जीतकर, मिथ्याभ्रान्ति को टालकर, मेरा भगवान आनन्द का धाम, उस पर मेरी दृष्टि और उसका स्वीकार, वह परम सत्य का स्वीकार है। ऐसे जीव को निरन्तर परम तत्त्व को तत्त्वतः (पारमार्थिक रीति से)... विकल्प और चिन्ता से नहीं। आहाहा! अन्तर के भगवान आत्मा में एकाग्र होकर भाता हूँ। उसकी भावना में एकाग्र होता हूँ, वह मुझे मोक्ष का उपाय है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)